हिन्दू धर्म की निर्बलता

डॉ भवानीलाल भारतीय

॥ ओ३म् ॥

हिन्दू धर्म की निर्बलता

आर्यावर्त्तीय मत मतान्तर-एक समीक्षा

खण्डन का प्रयोजन

नवयुग प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश को दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम दश समुल्लासों में उन्होंने धर्म के विधेयात्मक स्वरूप की व्याख्या की है तथा अन्तिम चार समुल्लासों में धर्म के नाम पर प्रचलित मत-मतान्तरों तथा पाखण्डपूर्ण पन्थों की समीक्षा में वे प्रवृत्त हुए। मत-मतान्तरों की आलोचना को आरम्भ करते समय उन्होंने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि उनकी यह मत समीक्षा रचनात्मक हो न कि ध्वंसात्मक। केवल आलोचना के लिये आलोचना करना उनका प्रयोजन नहीं था, इसलिए उन्होंने आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि मेरा इस ग्रन्थ को बनाने का मुख्य प्रयोजन 'सत्य अर्थ का प्रकाश' करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना।

एकादश समुल्लास में लेखक ने उन मत-मतान्तरों की विस्तृत समीक्षा की है जो आर्यावर्त्त देश में महाभारत काल के पश्चात् प्रचलित हुए तथा जिनकी अवैदिक शिक्षाओं के कारण इस देश का सार्वजनिक ह्रास हुआ। इस महत्त्वपूर्ण विवेचन का आरम्भ करते हुए स्वामी दयानन्द ने प्रथम आर्यावर्त्त देश के विगत गौरव का अत्यन्त भावना प्रवण भाषा में वर्णन किया है। उनके अनुसार धन धान्य एवं वैभव से परिपूर्ण यह भारत भूमि ही विगत काल में स्वर्ण भूमि कहलाती थी। इस भारत-

वर्ष को ही उन्होंने पारस पत्थर की संज्ञा प्रदान की है जिसे स्पर्श कर विदेशी लोग भी सोना बन जाते हैं। सृष्टि के आरम्भ काल से ही आर्यों ने इस भूमि पर निवास किया और स्मृतिकार मनु के अनुसार अन्य देशों के लोग इसी पुण्यभूमि के निवासी ब्राह्मणों से सदाचार तथा चरित्र की शिक्षा ग्रहण करते रहे।

परन्तु एक युग ऐसा भी आया जब आलस्य, प्रमाद, पुरुषार्थ-हीनता, अकर्मण्यता, मद्यमांसादि के सेवन और बाल-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों के बढ़ जाने के कारण आर्यावर्त्त वासी आर्य जाति पतन के मार्ग में अग्रसर होती गई। महाभारत के युद्ध में धन-जन, विद्या, बुद्धि और बल की जो हानि हुई उससे भी आर्य जाति की शक्ति और सामर्थ्य को धक्का लगा। ब्राह्मण जो इस समाज के मुखिया तथा मार्ग दर्शक समझे जाते थे, पथभ्रष्ट हो गये। फलतः क्षत्रिय, वैश्य तथा अन्य वर्ण के लोग भी स्वकर्त्तव्य हीन होकर पतित हो गये।

वाममार्ग

ऐसे समय में धर्म के मूलभूत तत्त्व विलुप्त हो गये। सांसारिक भोगों को भोगने के लिये नाना प्रकार के कपोल-कल्पित मतों का प्रचलन हुआ, जिसमें तन्त्र ग्रन्थों पर आश्रित वाम-मार्ग ने अपने अनुयायियों को सर्वाधिक आकृष्ट किया। इस मत में यों तो शिव एवं शक्ति की पूजा का विधान किया गया था, परन्तु इस मत की उपासना प्रणाली किसी भी प्रकार के संयम, नियम और अनुशासन को मानने के लिये प्रतिबद्ध नहीं थी। यहां मनुष्य को अपनी पाशविक प्रवृत्तियों तथा स्थूल वासनाओं को खुले रूप में तृप्त करने की पूरी छूट मिल गई थी। वाममार्गी

साधकों ने मद्य, मांस, मछली, मैथुन और मुद्रा के सेवन को ही अपनी साधना में सहायक माना तथा निवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति-मार्ग को श्रेयस्कर समझा। कालान्तर में वाममार्ग की प्रवृत्तियों के प्रचलन से समाज में सर्वत्र अनाचार, दुराचार तथा व्यभिचार का बोल बाला हो गया। समाज में इन वाममार्गी साधकों को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा, तब विवश होकर इनके ग्रन्थों में मद्य और मांसादि की अन्य प्रकार से व्याख्या की जाने लगी और आलंकारिक शैली तथा शब्दाडम्बर का सहारा लेकर ये लोग अपनी धारणाओं तथा विचारणाओं का औचित्य सिद्ध करने लगे।

सदाचार और नैतिकता की सामान्य धारणाओं का विरोध करने वाले अनाचार मूलक वाममार्ग की प्रतिक्रिया हुई। जैन तथा बौद्ध मतानुयायियों ने धर्म में नैतिकता तथा आचार को प्रधानता देने की बात कही। प्रचलित यज्ञों में की जाने वाली पशु हिंसा का उन्होंने विरोध किया तथा वर्ण व्यवस्था को जन्म-गत आधार देने से इन्कार किया। जब उन्हें बताया गया कि पशु-यज्ञों का विधान वेदों में उल्लिखित है तो जैन और बौद्ध आदि लोकायतों ने वेदों को भी मानने से इन्कार कर दिया। बौद्ध मत में ईश्वर की सत्ता को न तो स्वीकार किया गया है और न अस्वीकार। अनेक विद्वानों के मतानुसार भगवान् बुद्ध अज्ञेयवादी थे। जैन मतानुयायी अपने तीर्थंकरों को ही कैवल्य ज्ञान प्राप्त भगवान् मानते हैं और किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर की आवश्यकता अनुभव नहीं करते।

शाङ्कर वेदान्त

जब इस देश में जैन, बौद्ध आदि अवैदिक तथा प्रायः नास्तिक मतों का सर्वत्र प्राधान्य था तो दक्षिण भारत के केरल प्रान्त के कालड़ी नामक ग्राम में शंकराचार्य का आविर्भाव हुआ। शंकर ने

अपने गुरु गोविन्दपाद से समस्त वैदिक वाङ्मय का अल्प काल में ही अध्ययन कर लिया था। उन्होंने गीता, ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषदों पर अद्वैतवादी सिद्धान्तानुकूल भाष्यों की रचना की। आचार्य शंकर महान् मेधावी, दार्शनिक, उच्च कोटि के चिन्तक तथा विचारक थे। शंकर ने जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हुए संसार के मिथ्यात्व का उद्घोष किया। मायावाद का सिद्धान्त प्रचलित करते हुए उन्होंने कर्म की अपेक्षा ज्ञान के सर्वोपरि महत्व को स्थापित किया।

महर्षि दयानन्द ने विभिन्न युक्तियों व प्रमाणों से शाङ्कर अद्वैत-वाद तथा मायावाद का खण्डन करते हुए ईश्वर, जीव एवं प्रकृति की त्रिविध अनादि सत्ताओं का निरूपण किया। उन्होंने यह भी कहा कि यदि जीव ब्रह्म की एकता का सिद्धान्त शंकरा-चार्य को यथार्थ में मान्य था तो उसे उचित नहीं ठहराया जा सकता, किन्तु यदि उन्होंने इस मत को बौद्धों के खण्डन हेतु स्वीकार किया था तो इसे एक नीति के रूप में किसी सीमा तक उचित माना जा सकता है।

शैव मत

वस्तुतः ज्ञान पर अधिक जोर देने तथा कर्म एवं उपासना को सर्वथा महत्त्वहीन ठहराने के कारण शंकराचार्य का मत लोक प्रियता प्राप्त करने में असमर्थ रहा। कालान्तर में शैव मत का प्राधान्य हुआ। शिवपुराण, लिङ्गपुराण जैसे पुराणों में रुद्र-शिव को ही सर्वोपरि उपास्य ठहराया गया। यह युग पुराणाश्रित विभिन्न मतों एवं सम्प्रदायों के प्रचार एवं प्रसार का युग था। शैव सम्प्र-दाय में पार्थिव लिंग पूजन, रुद्राक्ष धारण, भस्म लेप जैसे कर्म-काण्डों को महत्त्व मिला। वैष्णवों से शैवों का सहज विरोध था। लिंग पुराण में तो यहां तक कहा गया है कि व्यक्ति शिवलिंग को

छोड़ कर किसी अन्य देवता की पूजा करता है वह रौरव नरक में जाता है। साम्प्रदायिक विरोध इस युग में चरम सीमा पर पहुंच चुका था। विष्णुप्रतिमा के दर्शन मात्र से शिवद्रोह की सम्भावना हो जाती थी। इसी प्रकार वैष्णव पुराणों में लिङ्गार्चन तथा शिवभक्ति की निंदा में अनेक श्लोक गढ़े गये। यहां तक कहा गया कि जो रुद्र के भक्त हैं तथा चिताभस्म, शिवलिङ्ग तथा शिव की भांति अस्थि मालायें धारण करते हैं वे पाखण्डी तथा वेद मर्यादा से बाह्य हैं। साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण ही भारतीय समाज की एकता नष्ट हुई। उपास्य देवों की विविधता बढ़ी तथा धार्मिक एवं सामाजिक एकता के सूत्र विनष्ट हुए। शैव एवं वैष्णवों के अतिरिक्त शाक्त, गाणपत्य तथा सौर आदि सम्प्रदायों का भी प्रचलन हुआ। यद्यपि प्रथम दो की तुलना में अवशिष्ट सम्प्रदायों का वर्चस्व न्यून ही रहा। विभिन्न सम्प्रदायों का यह तानाबाना जिन ग्रन्थों के आधार पर बुना गया था वे थे, अठारह पुराण। यों तो ये समय-समय पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखे गये थे परन्तु उन्हें व्यासोक्त कह कर मान्यता दी गई थी। स्वामी दयानन्द का स्पष्ट विचार है कि वर्तमान में उपलब्ध 18 पुराण व्यास की रचना नहीं है। महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास की, वेदान्त सूत्र, महाभारत आदि अन्य रचनाओं में पाये जाने वाले उच्च एवं गम्भीर विचारों तथा उदात्त धारणाओं की तुलना में पुराणों की विचारधारा अत्यन्त संकीर्ण, सम्प्रदायभावापन्न तथा छिछली नजर आती है। वस्तुतः पुराणों का रचना काल महाभारत युग से भी बहुत बाद का है। वैष्णव पुराणों की रचना सम्भवतः गुप्त युग में हुई। शैवपुराण भी उसी युग में बने। श्रीमद्भागवत पुराण का रचना काल भी पर्याप्त बाद का है।

धर्म-ग्रन्थों में प्रक्षेप (मनाव2)

साम्प्रदायिक भावना से ग्रस्त व्यक्तियों ने केवल पुराणों की रचना करके ही संतोष नहीं किया; वे समय-समय पर इन ग्रन्थों में स्वमन्तव्यानुसार अनेक बातों का प्रक्षेप भी करते रहे। यही कारण है कि वर्तमान में उपलब्ध पुराणों में बौद्ध और जैनमत के साथ साथ परवर्ती काल के वैष्णव आचार्यों, सन्तों तथा अन्य अर्वाचीन मतों का भी उल्लेख यत्र-तत्र मिल जाता है। भविष्यत् पुराण में तो मुस्लिम शासन काल तथा उसके बाद के अंग्रेजी शासन तक की भी घटनायें भविष्य-कथन के रूप में उल्लिखित हुई हैं। ऐसी स्थिति में वास्तविक धर्म के स्वरूप को जानने के लिये अष्टादश पुराणों पर कथमपि निर्भर नहीं रहा जा सकता। शास्त्रों में प्रक्षेप करने की प्रवृत्ति मध्यकाल में अत्यधिक रही। वाल्मीकीय रामायण, महाभारत तथा विभिन्न स्मृति ग्रन्थों में भी समय-समय पर अनेक नवीन अंश प्रक्षिप्त कर दिये गये।

वैष्णव मत

यद्यपि धार्मिकमत और पंथ भी समय की आवश्यकता के अनुरूप ही जन्म लेते और विलीन होते हैं, परन्तु जब उनकी सामयिक उपयोगिता समाप्त हो जाती है तब उनके बने रहने का कोई स्पष्ट औचित्य दिखाई नहीं देता। भारत में वैष्णव मत का विकास और ह्रास इस तथ्य को प्रमाणित कर देता है कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित शुष्क ज्ञान, भक्ति और कर्म विरहित था। इस बात को स्वीकार करने में कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए कि बौद्धों के निषेधात्मक शून्यवाद के प्रतिरोध में शंकर ने ब्रह्म की एक अद्वितीय सत्ता प्रतिपादित करने वाले अद्वैतवाद की स्थापना की। पुराणकार ने उसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए शाङ्कर मायावाद को असत् शास्त्र तथा प्रच्छन्न

बौद्धमत कहा था। शाङ्कर मत के प्रचलन से समाज में अकर्मण्यता, जड़ता तथा समाज विमुखता के भावों का प्रसार हुआ। जब भौतिक और इंद्रिय-गोचर संसार का ही अद्वैतवादियों ने निराकरण कर दिया तो सांसरिक, सामाजिक, परिवारिक और अन्य प्रकार के कर्त्तव्य कर्मों की उपादेयता और कर्त्तव्यता स्वतः ही समाप्त हो गई। स्वयं को ही ब्रह्म मानने वाले ज्ञान-मार्गी वेदान्ती के लिये परमेश्वर की भक्ति और उपासना की कोई आवश्यकता ही नहीं रही।

इन्हीं परिस्थितियों में दक्षिण भारत में भक्तिवाद की लहर उठी। सर्व प्रथम रामानुज ने लक्ष्मी और नारायण की उपासना का प्रचलन करते हुए अपने भक्ति सिद्धान्तों की नींव विशिष्टाद्वैत दर्शन पर स्थापित की। इसी प्रकार मध्वाचार्य, निम्बार्क तथा विष्णुस्वामी ने भी स्व अभिप्रायानुसार वेदान्त सूत्रों की व्याख्या करते हुए जहाँ द्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत नामक दार्शनिक सरणियों का प्रचलन किया वहाँ कृष्ण भक्ति के विविध रूपों को प्रचारित कर समस्त देश में अवतारवाद पर आश्रित गलदश्रु भावुकता से भरे भक्तिवाद का प्रचार किया।

अष्टादश पुराण समीक्षा

अष्टादश पुराणों की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति इस तथ्य से भी सिद्ध होती है कि इन्हें सात्विक, राजस तथा तामस कह कर विविध वर्गों में विभक्त किया गया है। विष्णु से सम्बन्धित विष्णु पुराण, भागवत पुराण और पद्म पुराण आदि को सात्विक, शिव से सम्बन्धित लिंग, शिव आदि पुराणों को तामस तथा अवशिष्ट पुराणों को राजस कोटि में रखा गया है। पुराण वर्णित धर्म अत्यन्त प्राचीन काल में प्रचलित उस वैदिक धर्म से नितान्त भिन्न है जो एकेश्वर पूजा, अग्निहोत्र से लेकर

अश्वमेध पर्यन्त याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा उपनिषद् निरूपित ब्रह्म विद्या का आधार लेकर चलता है। पुराण प्रतिपादित धर्म बहुदेववाद, नाना व्रत, तीर्थ, कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा और अवतारवाद आदि मध्यकाल में प्रचलित संकीर्ण साम्प्रदायिक धारणाओं को अपने भीतर समाविष्ट किये हुए हैं।

पुराणों में जिस धर्म का उपदेश किया गया है वह मनुष्य को पुरुषार्थ से हटा कर भाग्यवादी बनाता है। परमात्मा के एक, अचिन्त्य और सच्चिदानन्द स्वरूप के स्थान पर विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य तथा अनेक देवी देवताओं की साम्प्रदायिक प्रणाली के अनुसार पूजा करने की प्रेरणा देता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि विभिन्न पुराणों में पृथक् पृथक् आराध्य देवों के प्रति जो पृथकशः निष्ठा व्यक्त करने तथा अन्य देवी देवताओं की नितान्त उपेक्षा और निन्दा तक करने का उपदेश दिया गया है, उससे साम्प्रदायिक संकीर्णता को बढ़ावा मिला। समस्त भारतीय समाज वैष्णव, शैव, शाक्त, तथा गाणपत्य आदि उपासक समुदायों में विभक्त होकर एक दूसरे के प्रति वैमनस्य, शत्रुता तथा असहिष्णुता का भाव रखने लगा। इसके परिणाम स्वरूप समाज में विघटन हुआ तथा एकता के तत्त्वों का ह्रास हुआ।

यह तो सत्य है कि प्रारम्भ कालीन वैष्णव मत समाज के सभी वर्गों को साथ लेकर चला। उसमें जाति, वर्ण या वर्ग के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव के लिये स्थान नहीं था। किन्तु कालान्तर में वैष्णव सम्प्रदायों की आराधना और उपासना प्रणाली भी संकीर्ण काराओं में निबद्ध होकर कर्मकाण्ड बहुल जटिलता का शिकार हो गई। विष्णु के अवतार राम और कृष्ण आदि की पाषाण एवं धातु निर्मित मूर्तियों की मन्दिरों एवं देवालयों में प्राण प्रतिष्ठा, उनके भोग राग से

सम्बन्धित वर्ष भर चलने वाले विविध प्रकार के षोडशोपचार पूजन, विभिन्न पर्वों त्यौहारों तथा विशिष्ट अवसरों पर आयोजित किये जाने वाले बृहत् समारोहों का आडम्बर, पुजारियों की स्वार्थ प्रवृत्ति, भक्तों और उपासकों की अन्ध-श्रद्धा ने वैष्णव सम्प्रदाय तथा उसकी प्रवृत्तियों को समाज के लिए दुस्सह भार के तुल्य बना दिया।

वैष्णव मत में विद्यमान नाना प्रकार के पाखण्डों, कदाचारों, आडम्बरों तथा मिथ्या आचारों ने जो स्थिति उत्पन्न कर दी उसका दूषित प्रभाव समाज पर व्यापक रूप से पड़ा। धर्म, जो आचरण और आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों के प्रति श्रद्धा और विश्वास का भाव जागृत करता था, अब निरर्थक कर्मकाण्ड तथा बाह्य चिह्नों के धारण तक ही सीमित रह गया। चक्रांकित वैष्णव मत में तो विष्णु के शंख, चक्र, गदा और पद्म आदि धातु निर्मित चिह्नों से बाहुमूल को दागना, उर्ध्व पुण्ड्र (तिलक) धारण करना, दासान्त नाम रखना, गले में तुलसी माला एवं कण्ठी धारण करना तथा 'ओं नमो नारायणाय' आदि विष्णु मन्त्रों का सतत जप करना ही मुक्ति का हेतु माना गया है। नाभादास कृत भक्तमाल जैसे ग्रन्थों में वैष्णव भक्तों की नाना कथायें अत्यन्त अतिरंजित एवं अतिशयोक्ति पूर्ण शैली में वर्णित की गई हैं।

पुराणों ने आर्यावर्त्तीय धर्म संस्था को किस प्रकार विकृत किया है उसे समझने के लिये यह आवश्यक है कि इन ग्रन्थों में प्रतिपादित मूर्तिपूजा, अवतार सिद्धान्त, तीर्थ, उपवास, तिलक, छाप, माला आदि के साम्प्रदायिक कर्मकाण्डों आदि से उत्पन्न उन हानियों का लेखा जोखा उपस्थित किया जाए, जिनके कारण भारतीय हिन्दू समाज शताब्दियों से दुर्दशा ग्रस्त होकर नानाविध कठिनाइयों का शिकार हो रहा है। सर्व प्रथम

मूर्ति पूजा को ही लें। निश्चय ही प्राचीन वैदिक धर्म में मूर्तिपूजा के लिये कोई स्थान नहीं था। वेद मन्त्रों, उपनिषद्-वाक्यों, स्मृति ग्रन्थों तथा दर्शन के सूत्रों में मंदिर स्थापना करने अथवा राम, कृष्ण, भगवती और गणेश आदि पौराणिक देवी देवताओं की पाषाण रचित मूर्तियाँ स्थापित कर उसकी पूजा करने का विधान कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। कालान्तर में जब बौद्ध धर्म में भगवान् गौतम बुद्ध की प्रतिमाओं की स्थापना विहारों में होने लगी तथा जैन धर्म में महावीर आदि तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का पूजन आरम्भ हो चुका तो उन्हीं के अनुकरण पर हिन्दू धर्म में भी राम, कृष्ण आदि विष्णु के कल्पित अवतारों की मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं। पुरातात्त्विक अवशेषों से भी यह पता चलता है कि दो ढाई हजार वर्षों से अधिक प्राचीन कोई मंदिर नहीं मिलता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मूर्तिपूजा का अधिक प्रचलन गुप्त काल में हुआ।

पौराणिक हिन्दू भी ईश्वर को निराकार तो मानते हैं, यद्यपि उनके अनुसार वह साकार रूप में भी प्रकट हो सकता है किन्तु यह तर्क-संगत नहीं है। यदि ईश्वर निराकार है तो उसकी जो भी मूर्तियाँ, आकृतियाँ या शक्ल सूरत बनाई जायगी वह केवल मनुष्य की कल्पना का ही परिणाम होगा और जैसा हम देखते हैं मन्दिरों में जो मूर्तियाँ हैं उनमें से बहुत सी इतनी बदसूरत, भौंडी और डरावनी तथा कई बार जानवरों से मिलती जुलती होती हैं कि उन्हें ईश्वर की विकृति या व्यंग चित्र कहना अधिक उपयुक्त है। यह सब ईश्वर का अपमान और अनादर करने के समान है। अन्य कोई धर्म अपने ईश्वर या देवी देवताओं की विकृत शक्लें या मूर्तियाँ बनाकर उनकी ऐसी बेइज्जती नहीं करते।

मूर्तिपूजा खण्डन

मूर्तिपूजा की विस्तृत आलोचना करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है-'मूर्तिपूजा मुक्ति प्राप्त करने की सीढ़ी नहीं किन्तु एक बड़ी खाई है जिसमें गिरकर मनुष्य चकनाचूर हो जाता है। इसी प्रसंग में मूर्तिपूजा से होने वाली निम्न हानियों को भी परिगणित किया गया है।

(1) मंदिरों के निर्माण में राष्ट्र का करोड़ों रुपया व्यर्थ व्यय हो जाता है, जब कि इसी धन-राशि को लोकोपकार एवं जन-कल्याण के कार्यों में सदुपयोग किया जा सकता है।

(2) वर्तमान धर्म-स्थानों एवं मन्दिरों में पुजारियों तथा महन्तों के दुश्चरित्र की कहानियाँ सर्वत्र सुनी जाती हैं। विशेषतः वल्लभ सम्प्रदायानुवर्ती मन्दिर दुराचार और व्यभिचार के अड्डों के रूप में सदा बदनाम रहे हैं।

(3) मूर्तिपूजा से साम्प्रदायिक विद्वेष की वृद्धि होती है। वैष्णव मतानुयायियों का शैवमत से विरोध और शिव के आराधकों का विष्णु मतानुयायियों से विद्वेष भाव प्रसिद्ध है। मध्यकालीन इसी साम्प्रदायिक विद्वेष को दूर करने का प्रयत्न गोस्वामी तुलसीदास ने किया था किन्तु उन्हें भी अधिक सफलता नहीं मिली।

(4) मूर्तिपूजा से देशवासियों के स्वाभिमान और राष्ट्रीय गौरव की क्षति हुई है। जब मुसलमान आक्रमणकारियों ने मध्यकाल में मन्दिरों को लूटा, धर्मस्थानों को क्षति पहुंचाई और देव प्रतिमाओं को ध्वस्त किया, तो इनके अनुयायी देखते ही रह गये। मूर्तियों से ही अपने को सुरक्षित मानने वाले दुर्बल हिन्दू मूर्ति विध्वंसकों का कुछ भी प्रतिरोध नहीं कर सके। बल्कि जिन्होंने इन मूर्तियों को तोड़ा और मन्दिरों को लूटा, उन्होंने सैकड़ों वर्ष तक इस देश में शासन किया और

इन मूर्तियों के उपासकों को धार्मिक और राजनैतिक स्वाधीनता से वंचित किया।

इस प्रकार मूर्तिपूजा ने हिन्दुओं में कायरता, क्लीवता तथा पराधीनता के भावों की ही अभिवृद्धि की है।

(5) चैतन्य परमात्मा के स्थान पर जड़ मूर्तियों की पूजा करना सच्चिदानन्द स्वरूप, सर्वत्र व्यापक और सर्वशक्तिमान् परमात्मा का अपमान करना है।

(6) पुजारियों को दान-दक्षिणा के रूप में दिये जाने वाले धन का दुरुपयोग होता है। प्रायः देखा गया है कि मन्दिरों के पुजारी धूर्त, छली, अय्याश तथा दुर्व्यसनों से ग्रस्त होते हैं। मूर्ति को वे स्वयं भी जड़ मानते हैं, इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि स्वयं देव प्रतिमा के समक्ष भी हिंसा, दुराचार, व्यभिचार अथवा द्यूतक्रीड़ा जैसे दुष्कर्मों को करने में उन्हें किंचित मात्र भी संकोच नहीं होता जब कि कोई भी व्यक्ति ऐसे अपराध पूर्ण कार्य किसी जीवित या चेतन व्यक्ति के समक्ष नहीं करता।

मूर्तिपूजा के साथ जुड़े हुए नाना प्रकार के चमत्कार भी लोगों के अंधविश्वासों को बढ़ाने में ही सहायक हुए हैं। यही कारण है कि **सत्यार्थ प्रकाश** में उन चमत्कारों का खण्डन किया गया है। काशी के लाट भैरव, विश्वनाथ और वेणीमाधव, पुरी के जगन्नाथ, रामेश्वर, डाकोर जी के कृष्ण मन्दिर, सोमनाथ, द्वारिका, ज्वालामुखी, विंध्याचल, उत्तराखण्ड के मन्दिरों तथा अन्य देव स्थानों से जुड़े हुए नाना अंधविश्वास पूर्ण चमत्कारों का खण्डन कर स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट किया कि मूर्तिपूजा और उसके आश्रय-भूत तीर्थों, देवालयों तथा धर्म स्थानों में पाखण्ड, ढोंग और आडम्बर का ही सर्वत्र बोलबाला है।

मूर्तिपूजा और तीर्थयात्रा का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सामान्य जन समाज की यह धारणा है कि भारत में मूर्तिपूजा तथा तीर्थाटन की परम्परा सनातन काल से चली आई है, परन्तु यह बात तथ्यों के विपरीत है। पौराणिक तीर्थों की कल्पना भी जैन धर्म के मान्य पवित्र स्थानों के अनुरूप की गई है। पण्डों की बहियों का यदि हम अवलोकन करें तो हमें ज्ञात होगा कि इनका इतिहास अधिक पुराना नहीं है। काशी माहात्म्य, प्रयाग माहात्म्य आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में इन स्थानों की यात्रा के महत्त्व को बढ़ा चढ़ा कर अतिशयोक्ति पूर्ण ढंग से वर्णित किया गया है।

काशी विश्वनाथ के मन्दिर में दर्शनार्थ जाने वाले यात्रियों को वहां के पुजारी 'ज्ञान वापी' नामक वह ढका हुआ कुआँ भी बताते हैं जिसमें भगवान् शंकर ने उस समय कूदकर अपनी रक्षा की थी जब औरंगजेब ने मन्दिर तोड़ा था। ऐसी अपमान जनक बात अपने ही भगवान् के बारे में कहना कितने आश्चर्य की बात है। काशी के सम्बन्ध में तो ऐसी ही अन्य अनेक विचित्र एवं असंगत उक्तियां प्रचलित हैं। उसे भगवान् शंकर के त्रिशूल पर स्थित कहा गया है। यह भी मान्यता है कि अन्य क्षेत्रों में किये पापों को काशी में रह कर दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार शिव की नगरी काशी में मृत्यु प्राप्त करने से स्वर्ग लाभ होता है, यह धारणा भी जन सामान्य में प्रचलित है। परन्तु तीर्थों का यह माहात्म्य वस्तुतः **आर्य धर्म में मान्य कर्म-फल सिद्धान्त के विपरीत ही है।** यदि कृत कर्म का फल मिलना अवश्यम्भावी है तो तीर्थों में स्नान करने से उस फल से कैसे बचा जा सकता है?

गंगा, यमुना, सरस्वती, कावेरी, गोदावरी और नर्मदा आदि पवित्र समझी जाने वाली नदियों के साथ भी अनेक

विचित्र माहात्म्य कथायें जुड़ी हुई हैं। 'सैंकड़ों कोस दूर बैठे-बैठे भी यदि गंगा नाम का उच्चारण कर लिया जाये तो मनुष्य सब प्रकार के पापों से मुक्त होकर विष्णु लोक प्राप्त करता है।' इस प्रकार की विभिन्न उक्तियों से पौराणिक साहित्य भरा पड़ा है। वस्तुतः तीर्थों के सम्बन्ध में प्रचलित ये धारणायें मनुष्य को पुरुषार्थहीन, भाग्यवादी, अकर्मण्य तथा आलसी बनाती हैं।

अभी कुछ दिन पूर्व वैज्ञानिकों ने प्रयाग आदि में गंगा के पानी का परीक्षण करके ही सूचित किया कि उसमें भी रोग के अनेक कीटाणु हैं क्योंकि कई स्थानों पर शहर के गंदे पानी के नाले उसमें डाल दिये गये हैं।

तीर्थों की ही भांति व्यर्थ का नामोच्चारण, गुरुमाहात्म्य तथा साम्प्रदायिक बाह्य चिह्नों को धारण करना भी मनुष्य के लिये कथमपि उपयोगी सिद्ध नहीं होते। जैसे गुड़ या शक्कर का नाम लेने मात्र से मुंह मीठा नहीं होता, इसी प्रकार सदाचरण रहित व्यर्थ का भगवन्नाम स्मरण भी मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक नहीं हो सकता। गुरु को हम अपना आध्यात्मिक मार्ग का दर्शक तथा हितैषी तो मान सकते हैं, परन्तु मध्यकाल में गुरु को जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव के तुल्य बता कर उसे कभी-कभी साक्षात् परमात्मा का जो दर्जा दिया गया उसे स्वीकार करना कठिन है। गुरु-भक्ति का अतिरेक उस समय हुआ जब कि मध्यकालीन सन्तों और भक्तों ने उसे परमात्मा से भी बड़ा मान लिया और गुरु-कृपा से ही इहलोक और परलोक सुधरने की भावना बना बैठे। वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों ने तो अपने भक्तों को अपना सब कुछ, तन, मन, और धन तक गुरु को अर्पण करने का आदेश दिया। तन, मन, धन, गुसाईंजी के अर्पण वाली उक्ति ने वैष्णव समाज

में अनाचार और दुराचार की जिस परम्परा का बीज वपन किया, वह वृद्धिगत होकर भक्त समुदाय के सदाचार का किस प्रकार नाशक सिद्ध हुआ है इसकी कथा ही पृथक् है।

आचार्य रजनीश केवल बिना विवाह के निर्बाध स्त्री पुरुष संयोग का उपदेश ही देते हैं अपितु उनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में भी अनेक चर्चायें प्रचलित हैं। कुछ दिन पूर्व अपने किसी गम्भीर रोग के इलाज के लिये वे अचानक अमेरिका चले गये। सांई बाबा तथा अन्य आधुनिक गुरुओं के बारे में भी कुछ वैज्ञानिकों ने शोध करके यह सिद्ध किया है कि वे भी अनेक मानवीय कमजोरियों और रोगों के स्वयं शिकार हैं।

वस्तुतः भारतवर्ष के धार्मिक वातावरण में जो ग्लानि, दुरवस्था तथा अनाचार का समावेश हुआ उसके लिये स्वामी दयानन्द ने प्रचलित पुराणों को ही दोषी ठहराया है। यों कहने के लिये तो सृष्टि, प्रलय, वंश, मनवन्तर तथा वंशानुचरित का वर्णन पुराणों का प्रतिपाद्य विषय बताया गया है, परन्तु शायद ही कोई पुराण इस कसौटी पर खरा उतरे। यों तो प्रसंगोपात्त पुराणों में सृष्टि: प्रलय आदि वर्णन, सूर्य चन्द्र आदि राजवंशों का वर्णन, विभिन्न राजाओं की चरितावली आदि का उल्लेख मिलता है, परन्तु विज्ञान और तर्क की कसौटी पर पुराण वर्णित सृष्टि-प्रलय वर्णन खरे नहीं उतरते हैं और यहाँ उपलब्ध राजवंशावलियाँ भी इतिहास प्रतिपादित तथ्यों के विपरीत हैं।

तब प्रश्न उठता है कि क्या पुराणों में घुणाक्षर न्याय से कुछ भी सत्य नहीं है। स्वामी दयानन्द यह तो नहीं कहते। उनका कथन है कि यदा कदा यत्र तत्र पुराणों में भी कुछ सचाई दृष्टिगोचर होती है, परन्तु वह वेदादि शास्त्रों में प्रतिपादित सत्य का ही उपबृंहण है। तथापि पुराणों को

प्रमाण कोटि में मानना इसलिये भी उचित नहीं है, क्योंकि पुराण वर्णित स्वल्प सत्य असत्य एवं मिथ्या की विशाल राशि से मिलकर विष सम्पृक्तान्नवत् त्याज्य हो गया है। बात तो यह है कि पुराण नामधारी इन ग्रन्थों की रचना उस समय हुई थी, जबकि इस देश में साम्प्रदायिक भावना अपने चरमोत्कर्ष पर थी। यही कारण है कि पृथक्-पृथक् पुराणों में भिन्न-भिन्न देवताओं को सृष्टि का सृजक, पालक, संहारक तथा भक्तों के लिये परम आराध्य के रूप में चित्रित किया गया है। वस्तुतः वैदिक धर्म में मान्य एकेश्वरवाद पौराणिक काल तक आते-आते अपना निर्मल स्वरूप नष्ट कर बैठा था। सर्वोपरि पूज्य और उपास्य सच्चिदानन्द परमात्मा के स्थान पर नाना विग्रहधारी, मनुष्योचित दुर्बलताओं को धारण करने वाले देवताओं की उपासना का प्रचलन भारतीय हिन्दूसमाज की एकता तथा शक्ति का विनाशक ही सिद्ध हुआ।

श्रीमद्भागवत समीक्षा

यों तो सभी पुराण नाम धारी रचनायें साम्प्रदायिक भावों से ओत-प्रोत होने के कारण मिथ्या एवं त्याज्य हैं, किन्तु श्रीमद्भागवत में वैष्णव साम्प्रदायिकता अपनी चरम सीमा पर पहुंची है। प्रथम तो पौराणिक लोगों में इस बात पर भी विवाद है कि वास्तविक भागवत महापुराण कौन सा है? वैष्णव लोग उस भागवत को महापुराण की संज्ञा प्रदान करते हैं जो द्वादश स्कन्धात्मक है तथा जिसमें मुख्य रूप से विष्णु के कृष्णावतार तथा प्रसंगोपात्त अन्य अवतारों के नाना चरित्रों का उल्लेख हुआ है। कृष्ण जैसे महापुरुष के बारे में श्रीमद्भागवत में उनके अनुयायियों से गोपियों से उनकी रास-लीला आदि की अनेक मनगढन्त कथाएं बनाकर उनको बदनाम करने का प्रयत्न किया है

जिसके आधार पर विधर्मी लोगों को हिन्दू देवताओं का उपहास करने का अवसर मिलता है। उधर शाक्त लोगों के मतानुसार भागवत पुराण की संज्ञा देवी-भागवत को दी जानी चाहिए, जिसमें भगवती कालिका का महात्म्य वर्णित है तथा देवी के द्वारा किये गये विभिन्न दानवों के वध से सम्बन्धित उपाख्यान निबद्ध किये गये हैं। शाक्तों और वैष्णवों का यह भागवत विषयक विवाद अभी तक समाप्त नहीं हुआ है।

पुराणों के प्रति विपरीत धारणा बनने के अनेक कारणों में से एक प्रमुख कारण इन ग्रन्थों में पाई जाने वाली युक्ति, प्रमाण, तर्क तथा विज्ञान विरुद्ध बातें भी हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्वामी दयानन्द ने पुराणकारों को भूगोल विद्या का शत्रु बताया है। वस्तुतः भूगोल ही क्या, पुराणों में खगोल, ज्योतिष, भूगर्भ-विद्या तथा अन्य नाना ज्ञान-विज्ञान प्रतिपादित बातों के विरुद्ध बहुत कुछ अनर्गल, अविश्वसनीय तथा अवैधानिक बातें लिखी गई हैं, जिन्हें आज के बुद्धिवादी युग में सर्वसाधारण के लिए माना जाना असम्भव ही है।

इसी प्रकार प्रचलित पुराणों में हमारी संस्कृति में मान्य तथा आदरास्पद ऋषि मुनियों, देवी देवताओं तथा महापुरुषों की जो निंदा, कुत्सा की गई है, उन पर नाना प्रकार के चरित्रगत दोष लगाये गये हैं, उन्हें पढ़ कर सामान्य पाठक का मन ग्लानि से भर जाता है। यही कारण है कि आर्य-धर्म से द्वेष रखने वाले ईसाई तथा मुसलमान मत प्रचारकों ने पुराणों को आधार बना कर राम, कृष्ण आदि आर्य संस्कृति के पुरोधा महापुरुषों पर विभिन्न प्रकार के कलंक लगाये हैं। इसी बात को ध्यान में रख कर स्वामीजी को भागवत के सम्बन्ध में लिखना पड़ा—"देखो श्रीकृष्ण का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है।

उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्री कृष्णजी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा और इस भागवत बनाने वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं।"

कुछ लोगों की धारणा है कि मध्यकाल में पुराणों की रचना उस समय हुई जब वेद, उपनिषद्, दर्शन तथा स्मृति आदि धर्मशास्त्रों को पढ़ने और समझने की क्षमता का सर्व साधारण में अभाव हो गया। ऐसे समय में जब कि धर्म की ग्लानि अपनी चरम अवस्था पर पहुंच चुकी थी, व्यास जैसे कृपालु मुनियों ने स्त्री, शूद्र तथा अन्य वेद ज्ञान के अनधिकारी वर्गों को धर्म-ज्ञान कराने की दृष्टि से इन ग्रन्थों की रचना की। परन्तु इस कथन में भी कोई सत्यता नहीं है। वस्तुतः स्त्री और शूद्रों के वेदों के पठन-पाठन का अधिकार तो पुराकाल में सदा से ही रहा था। स्वयं यजुर्वेद का कथन-'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य;' इस बात का प्रमाण है कि परमात्मा की वेद रूपी कल्याणी वाणी मनुष्य मात्र के हितार्थ सृष्टि के आदि काल में अग्नि, वायु, आदित्य एवं अंगिरा नामक ऋषियों के पावन हृदयों में प्रकट हुई थी। उसे ही कालान्तर में ब्रह्मा आदि ऋषियों ने सर्वत्र भूमण्डल पर प्रचारित किया। उस युग में वेद के पठन-पाठन का अधिकार मनुष्य मात्र को था, तथा कोई भी व्यक्ति जाति, धर्म, लिंग अथवा वर्ग के कारण इस पवित्र ज्ञान से वंचित नहीं किया जाता था। कालान्तर में अब साम्प्रदायिक भावनाओं का पल्लवन और पोषण हुआ तो कुछ गिने चुने ब्राह्मण वर्ग के लोगों ने वेद के पठन-पाठन के अधिकार को अपने लिये सुरक्षित रख लिया। इसी संकीर्ण एवं साम्प्रदायिक विद्वेष से परिपूर्ण युग में स्त्री और शूद्रों के वेदाधिकार पर नाना प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये

गये। महर्षि दयानन्द ही वर्तमान युग के वे महापुरुष हैं जिन्होंने बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक योग्य व्यक्ति को वेद जैसे उदात्त ज्ञान-कोश का अधिकारी स्वीकार किया।

फलित ज्योतिष

सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में प्रचलित आर्य-धर्म में व्याप्त सभी प्रकार के अन्धविश्वासों तथा मिथ्या रूढ़ियों पर प्रहार किया गया है। स्वामीजी का कथन है कि फलित ज्योतिष को विज्ञान नहीं कहा जा सकता। केवल अनुमान तथा कल्पना पर आश्रित फलित-ज्योतिष ने देशवासियों को अधिकाधिक मूढ़, अन्धविश्वासी, पुरुषार्थ-विहीन तथा अकर्मण्य बनाया है। प्राचीन ज्योतिष गणितीय नियमों पर आधारित होने तथा वास्तविक वैज्ञानिक प्रयोगों में प्राप्त निष्कर्षों पर निर्भर होने के कारण जहाँ विज्ञान की श्रेणी में आती है, वहां फलित-ज्योतिष अनुमानाश्रित होने के कारण प्रमाण कोटि में नहीं आती। धरती से करोड़ों मील की दूरी पर रहने वाले ग्रह और नक्षत्र आदि भूवासियों के जीवन तथा कर्म को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। महामति चाणक्य ने पुरुषार्थ को भूल कर ग्रह नक्षत्रों की ओर देखने वाले व्यक्ति को बालक की संज्ञा दी है।

इस वैज्ञानिक युग में मानव चन्द्रमा तक की यात्रा करके लौटा है और अमेरिका तथा रूस के वैज्ञानिकों ने अरबों-खरबों मील दूर शनि आदि ग्रहों तक अन्तरिक्ष यान भेजकर उनके चित्र और विस्तृत जानकारी प्राप्त की है। इस सन्दर्भ में भला फलित ज्योतिषियों की मनगढ़न्त गप्पों पर कौन बुद्धिमान व्यक्ति विश्वास कर सकता है? दुर्भाग्य से हमारे सत्तालोलुप

राजनीतिक नेता अनेक कटु अनुभवों के बाद भी इन ज्योतिषियों के पीछे घूमते हैं जिससे साधारण व्यक्तियों में भी अन्धविश्वास फैलता है।

अठारह पुराणों में से एक गरुड़ पुराण मृत्यु के पश्चात् जीव की विभिन्न गतियों, योनियों में भ्रमण तथा पाप-पुण्य के आधार पर उसे प्राप्त होने वाले नाना विध स्वर्ग-नरक के वर्णन प्रस्तुत करता है। यह सत्य है कि मृत्यु के अनन्तर प्राप्त होने वाले पुनर्जन्म का दार्शनिक ढंग से विवेचन हमारे शास्त्रों में हुआ है, परन्तु गरुड़ पुराण वर्णित बातें तो सर्वथा कल्पना आश्रित तथा मिथ्या हैं। यमराज और उसके मंत्री चित्रगुप्त, उनके भीषणाकृति रण, कुम्भीपाक और रौरव आदि विभिन्न नरक, वैतरणी आदि एवं मृत व्यक्ति की सद्गति के लिये किये जाने वाले विभिन्न श्राद्ध, तर्पण, गोदान आदि पूर्णतया कपोल-कल्पित हैं। मृत व्यक्ति को दिये जाने वाले पिंडदानादि की भी कोई सार्थकता नहीं है क्योंकि इस लोक में किये गये अन्यों के दानादि कर्मों का फल अन्य लोक के प्राणियों को प्राप्त नहीं होता। तथ्य तो यह है कि जीव के शरीर त्याग के पश्चात् वह किंचित् काल पर्यन्त ईश्वरीय व्यवस्था के आधीन अन्तरिक्ष लोक में विचरता है, तदुपरान्त स्वकृत कर्मानुसार उसे नवीन जन्म धारण करना पड़ता है।

दान व्यवस्था

भारतीय संस्कृति में दान पद्धति को बड़ा महत्त्व मिला है, किन्तु पुराण मतावलम्बियों ने दान प्रथा को भी विकृत कर डाला। शास्त्रों के अनुसार देश, काल तथा पात्र को देखकर जो दान किया जाता है, वही सात्विक कोटि में आता है जब कि अयोग्य काल में अपात्र व्यक्ति को अवहेलना पूर्वक जो दिया जाता है, वह तामस दान होता है। आश्चर्य है कि पौराणिक

दान में देश, काल एवं पात्र के औचित्य की सर्वथा अवहेलना की गई है। इसी प्रकार पुराणकारों ने एकादशी आदि तिथियों में में किये जाने वाले नाना प्रकार के व्रत, उपवास, नियम और संयम आदि भी कल्पित किये हैं। यदि कोई पुराण विश्वासी इन ग्रन्थों की एक एक पंक्ति पर विश्वास रख कर उपवास करने लगे तो उनके लिये 'आठों दिन दण्ड एकादशी' वाली कहावत चरितार्थ होगी। पुराणों के अनुसार प्रत्येक तिथि एवं वार किसी न किसी देवी देवता से जुड़ा हुआ है और तत् तत् तिथि या वार को अमुक देवी देवता के प्रीत्यर्थ उपवास रखना सर्वथा उचित है। इस प्रकार तो मनुष्य उपवास करते करते ही अपने जीवन का अन्त कर लेगा। आज कल कुछ नवीन देवी देवता तथा उनसे सम्बन्धित व्रत, उपवास हिन्दू समाज में जुड़ गये हैं। सन्तोषी माता के नाम से प्रचलित देवी तथा उसकी प्रसन्नता के लिये किये जाने वाला शुक्रवारीय उपवास इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

एकादशी खण्डन

वैष्णव सम्प्रदाय में एकादशी का माहात्म्य सर्वोपरि है। विभिन्न मासों की चौबीस एकादशियों को पुराणकारों ने धनदा, कामदा, पुत्रदा आदि विभिन्न काल्पनिक नाम दे रक्खे हैं परन्तु वर्षों तक सतत एकादशी व्रत रखने वालों को न तो पुत्र प्राप्ति होते देखी गई और न धन प्राप्त करते ही उन्हें देखा गया। वस्तुतः उपवास की आवश्यकता तो मनुष्य को तब होती है जब वह भोजन में व्यतिक्रम के कारण अजीर्ण या अपच का शिकार हो जाय। स्वास्थ्य रक्षा के लिये साप्ताहिक, पाक्षिक उपवास की उपयोगिता भी समझ में आती है किंतु देह दण्डन की दृष्टि से अथवा पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिये उपवास आदि कठोर, कृच्छ साधनों का कोई महत्त्व नहीं है।

प्राय: जब पौराणिक विधि विधानों के लिये वेदों के प्रमाण मांगे जाते हैं तो हमारे बंधु यह कह कर समाधान करने की चेष्टा करते हैं कि आज चारों वेदों की कुछ संहितायें और शाखायें ही उपलब्ध हैं। अन्य सहस्रों शाखायें तो सर्वथा लुप्त ही हो गई हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि इन लुप्त संहिताओं में मूर्तिपूजा, अवतार, तीर्थ यात्रा, व्रतोपवास तथा अन्यान्य साम्प्रदायिक कर्मकाण्डों का विधान रहा हो। परन्तु इस तर्क में कोई सार नहीं है। कारण यह है कि यदि ये पौराणिक विधान तथाकथित लुप्त शाखाओं में होते तो, कोई कारण नहीं कि उनकी पुष्टि में कोई न कोई संकेत उपलब्ध संहिताओं में भी नहीं रहता। जब वर्तमान उपलब्ध वैदिक शाखाओं में इन कृत्यों का लेश मात्र भी उल्लेख नहीं मिलता तो अन्यत्र उसकी तलाश करना या उनके बारे में अनुमान करना क्लिष्ट कल्पना ही है।

मध्यकालीन पौराणिक मतों के खण्डन का समाहार करते हुए ऋषि दयानन्द ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन मत-सम्प्रदायों के प्रचार से धर्म, संस्कृति और वैदिक परम्परा को बड़ा धक्का लगा है। इनसे राष्ट्र की एकता का विखण्डन हुआ है तथा भारतीय समाज में परस्पर विरोध, वैषम्य तथा विद्वेष के भावों की ही वृद्धि हुई है। शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सभी सम्प्रदायों ने बहुदेवोपासना, व्यर्थ के क्रिया काण्ड, बाह्य आचार तथा अनेक अनाचारमूलक क्रियाओं को प्रश्रय दिया है। विभिन्न सम्प्रदायों के बल पकड़ने का एक परिणाम यह भी हुआ कि मध्यकाल में इस्लामी संस्कृति के आक्रमण को रोकने में हिन्दू समाज के ये विभिन्न घटक सर्वथा असमर्थ रहे। इस्लाम की सामाजिक एकता, एकेश्वरवादी उपासना प्रणाली, जाति भेद से रहित समाज व्यवस्था तथा मूर्तिपूजा के प्रति उसके आक्रामक रुख

ने विभिन्न मत सम्प्रदायों में बहुशः विभक्त हिन्दू धर्म को सर्वथा जीर्ण-शीर्ण तथा मृत्युकामी बना दिया।

भारत में निर्गुण मत, शास्त्रीय मर्यादा और मान्यता को स्वीकार करने वाले क्रमशः मत-सम्प्रदाय तो थे ही, मध्यकाल में कुछ ऐसे नवीन मत और पन्थ भी चल पड़े जो शास्त्राज्ञा तथा शास्त्रादेश को अधिक महत्त्व नहीं देते थे। निर्गुण सन्तमत को तत्कालीन परिस्थितियों की देन ही कहा जाएगा। तत्कालीन समाज नाना जातियों में विभक्त होकर अपनी सामाजिक चेतना तथा संगठन शक्ति को खो चुका था। ब्राह्मणों के प्रभुत्व ने दलित और निम्न जातियों में एक प्रकार की हीनभावना उत्पन्न कर दी थी। तथाकथित दलित वर्ग पर विभिन्न प्रकार के धार्मिक एवं सामाजिक अत्याचार होने लगे। संस्कृत अध्ययन और शास्त्र अनुशीलन के अधिकार से उन्हें बहुत पहले ही वंचित कर दिया गया था।

धर्म के नाम पर विभिन्न प्रकार के बाह्याचारों का बोल-बाला था। आवश्यकता इस बात की थी कि धर्म का वास्तविक रूप एक बार पुनः जन समाज के समक्ष प्रस्तुत किया जाता। यह कार्य उस युग से साधु, सन्त उपाधिधारी उन महापुरुषों के द्वारा हुआ जो यद्यपि दलित जातियों में जन्म धारण करने के कारण ब्राह्मण समाज से सम्मान अर्जित करने में तो असफल रहे, किन्तु अपने सरलता, निरभिमान, निर्गुण भगवद्भक्ति आदि गुणों के कारण सामान्य जन समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके। अपने निराले किन्तु क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के कारण कबीर, नानक, दादू, रैदास और सुन्दरदास आदि सन्तों ने निर्गुण भक्तिवाद का प्रचार करते हुए बहुदेवोपासना, साकारवाद, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन और अवतारवाद आदि का प्रबल खण्डन किया। वैचारिक दृष्टि से सन्त मत की अनेक शिक्षाओं तथा

स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं में अनेक समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं।

स्वामी दयानन्द यह तो स्वीकार करते हैं कि कबीर, नानक आदि सन्तों का मुख्य आशय धर्म के मूलभूत तत्त्वों को बाह्य आवरणों से पृथक् कर उपस्थित करना ही था। तथापि वे उनके शास्त्रों से अकारण विरोध करने के रुख को अच्छा नहीं मानते थे। यही कारण है कि सिक्ख गुरुओं द्वारा की गई धर्म की रक्षा तथा अन्य सामाजिक हित के कार्यों की प्रशंसा करते हुए भी वे इन निर्गुण मतों में प्रवेश पा जाने वाले साम्प्रदायिक कर्म काण्डों का विरोध करने में कोई संकोच नहीं करते। साथ ही स्वामी दयानन्द ने यह भी अनुभव किया था कि निराकार तथा निर्गुण परमात्मा का बखान करने वाले ये निर्गुण मत कालान्तर में गुरुडम के बहुत बड़े केन्द्र बन चुके हैं। इनके अनुयायियों ने स्वसम्प्रदाय प्रवर्त्तक को ही ईश्वर का दर्जा दे दिया है। मूर्तिपूजा का विरोध करने वाले निर्गुण सम्प्रदायों में गुरु की गद्दी, खडाऊ, पलंग आदि की पूजा प्रचलित हो गई है। इसी प्रकार सिक्ख गुरुओं की महान् परम्परा अन्ततः जड़ पुस्तक की पूजा में समाप्त हो गई। वैष्णवों के बाह्याचारों का तीव्र खण्डन करने वाले कबीर के स्वयं के अनुयायी कण्ठी, तिलक आदि धारण कर आडम्बर पूर्ण कर्मकाण्डों में लिप्त हो गये।

इन मतों के परवर्ती अनुयायियों ने अपने सम्प्रदाय प्रवर्त्तकों के साथ नाना किंवदन्तियों, मिथ्या कथाओं तथा चमत्कार पूर्ण उपाख्यानों को जोड़ कर ऐसे ग्रन्थों का निर्माण किया जो पुराणों से किसी भी प्रकार कम नहीं थे। इनमें राजस्थान का रामस्नेही मत सर्वाधिक पाखण्डपूर्ण था। यद्यपि इस मत में राम को निर्गुण परमात्मा के एक नाम के रूप में

ही स्वीकार किया गया था, किन्तु गुरु पूजा, पाखण्ड पूर्ण आचार तथा अन्य प्रकार की साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों के कारण यह सम्प्रदाय भी बदनाम ही रहा।

वैष्णव सम्प्रदायों में जो सम्प्रदाय सदाचार का सर्वाधिक विनाशक सिद्ध हुआ वह था वल्लभाचार्य प्रवर्तित पुष्टि-मार्ग। वल्लभाचार्य आंध्र देशवासी थे, परन्तु उनकी शिक्षाओं का प्रचार ब्रज तथा गुजरात में विशेष रूप से हुआ। जिस समय वल्लभाचार्य ने विष्णु-स्वामी प्रवर्तित शुद्धाद्वैत मत का सहारा लेकर पुष्टि-मार्ग का विस्तार किया, उस समय ब्रजमण्डल घोर अविद्याग्रस्त तथा भ्रान्त धारणाओं से परिपूर्ण था। आचार्य वल्लभ ने गोवर्धन के निकट श्रीनाथ जी के मन्दिर की स्थापना की तथा सम्प्रदाय पद्धति के अनुसार उसमें प्रतिमा स्थापना के अनन्तर भोगराग के अत्यधिक आडम्बर के द्वारा भोले-भाले लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया। इस सम्प्रदाय के आचार्य गृहस्थी होते हैं। वल्लभ के पश्चात् उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ आचार्य की गद्दी पर आसीन हुए। जब औरंगजेब ने ब्रज-मण्डल के वैष्णव मन्दिरों को नष्ट करने का उपक्रम किया तो इस सम्प्रदाय के लोग अपने आराध्य देवों की मूर्तियों को लेकर राजस्थान के नाथद्वारा, कांकरोली, कोटा आदि स्थानों में चले गये, जहां राजपूत शासकों के आश्रय में रह कर उन्हें अपनी पूजा-पद्धति के निर्वाह की अधिक सुविधा थी।

वल्लभ प्रवर्तित वैष्णव मत के मन्दिरों में देव प्रतिमा की आराधना अत्यधिक वैभव सम्पन्न वातावरण में की जाती है। लाखों रुपयों के खाद्य-पदार्थ प्रसाद रूप में तैयार किये जाते हैं तथा उन्हें नैवेद्य के रूप चढ़ाने के पश्चात् खुले बाजार में बेचा जाता है। मनों घृत, दुग्ध, शक्कर, चावल, गेहूं आदि

तथा केसर, कस्तूरी जैसे मूल्यवान दुर्लभ पदार्थ इस सम्प्रदाय के मंदिरों में बहुतायत से विविध खाद्य व्यञ्जनों को तैयार करने में प्रयुक्त होते हैं। विचार करने की बात यह है कि जिस देश में अधिकांश जनता दोनों समय का भोजन भी प्राप्त करने में असमर्थ हो, वहाँ मंदिरों की जड़ प्रतिमाओं की काल्पनिक तुष्टि के लिये इस प्रकार खाद्यान्नों के अपव्यय का क्या औचित्य है ?

बल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत मत कहलाता है। शंकराचार्य ने जहाँ मायावाद का प्रश्रय लेकर विश्व प्रपञ्च की व्याख्या करने का प्रयास किया था, वहां बल्लभ के अनुसार ब्रह्म शुद्ध तथा माया जैसे शक्ति से सदा विरहित एक, अद्वैत चिन्मय तत्त्व है। परन्तु वही ब्रह्म भक्तों को अपनी जन-रंजनकारी लीलाओं का आस्वादन कराने के लिये स्वयं कृष्णरूप में अवतरित होता है। इस सम्प्रदाय में भागवत प्रमुख प्रामाणिक शास्त्र ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया है, यद्यपि आचार्य बल्लभ ने अपने पूर्ववर्ती वैष्णव आचार्यों की भांति ब्रह्मसूत्रों तथा गीता पर भी भाष्य लिखे हैं। बल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण भक्ति को मधुर भावाश्रित माना गया है। जैसा प्रेम गोपियों तथा राधा का कृष्ण के प्रति था, वैसे ही प्रेम को भक्त भी आदर्श मान कर स्वीकार करे, यही इस इस सम्प्रदाय की मान्यता है। राधा कृष्ण की पत्नी नहीं थी। उसका परकीया स्वरूप ही ब्रह्म वैवर्त आदि पुराणों में उभरा है। बल्लभ सम्प्रदाय में भी परकीया भाव की माधुर्य उपासना को महत्त्व मिला। कालान्तर में यह परकीया भाव अपना विकृत रूप लेकर सखी सम्प्रदाय के रूप में समाज में नाना प्रकार के दुराचारों के प्रवर्तन का कारण बना।

इस सम्प्रदाय में गुरु और आचार्य के महत्त्व को अत्यंत अतिरंजित रूप दे दिया गया है। गुरु-भक्ति उस सीमा पर जा

अत्यन्त विकृत रूप धारण कर लेती है, जब कि गुरु के समक्ष शिष्य को अपना तन, मन और धन अर्पित करने के लिये कहा जाता है। एक युग ऐसा भी आ गया था, जब कि इस सम्प्रदाय के भक्तगण अपने आचार्य के समक्ष तन, मन और धन तो क्या नव विवाहिता पत्नी तक को भी समर्पित करने के लिये विवश किये जाते थे। उसी प्रकार के अनर्थपूर्ण कृत्यों के कारण बल्लभ सम्प्रदाय को अत्यधिक निंदास्पद होना पड़ा। जिस समय स्वामी दयानन्द बम्बई में पहुंचे थे, उस समय वहाँ के वायु मण्डल में बल्लभ सम्प्रदाय के महाराजों के दुराचार पूर्ण कृत्यों की गूंज थी। कुछ समय पूर्व ही 'महाराज लाइबल केस, के निर्णय के अनुसार इस सम्प्रदाय के महन्तों के व्यभिचार पूर्ण कृत्यों की कथायें जनता के समक्ष आ चुकी थीं।

बल्लभ सम्प्रदाय की इन पाखण्ड पूर्ण प्रवृत्तियों का खण्डन करते हुए स्वामी दयानन्द ने 'वेद विरुद्ध मत खण्डन' नामक ग्रन्थ लिख कर पुष्टि-मार्ग की विकृतियों का पर्दा-फास किया तथा जन सामान्य को इस मत की दूषित विचार धारा तथा दुराचार मूलक शिक्षाओं से परिचित किया। स्वामी दयानन्द के इस आक्रामक कदम का परिणाम यह हुआ कि पुष्टि-मार्ग के महन्त और पुजारी उनके शत्रु बन गये तथा बम्बई में ही उनके प्राण-हरण करने के अनेक षड़यंत्र किये गये। इस प्रकार गोकुलिये गुसाई सम्प्रदाय के सभी पाखण्ड और अनाचार मूलक सिद्धान्तों एवं कृत्यों का भंडाफोड़ कर स्वामीजी ने उन्हें यह सत् परामर्श दिया—"अब लौं जो हुआ सो हुआ, परन्तु अब तो अपनी मिथ्या प्रपञ्चादि बुराइयों को छोड़ो और सुन्दर ईश्वरोक्त वेद विहित सुपथ में आकर अपने मनुष्य रूपी जन्म को सफल कर धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष इन चतुष्टय फलों को प्राप्त होकर आनन्द भोगो।"

स्वामी नारायण मत :

गुजरात प्रान्त में स्वामी नारायण मत का पर्याप्त प्रचार है। स्वामी दयानन्द ने गुजराती होने के कारण इस मत को निकटता से देखा था। इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन सहजानन्द नामक किसी व्यक्ति ने किया था, जो गुजरात, काठियावाड़ तथा कच्छ आदि स्थानों में घूमकर अपने मत का प्रचार करता रहा था। स्वामी नारायण मत के खण्डन में स्वामी दयानन्द ने 'शिक्षा पत्री ध्वान्त निवारणम्' नामक एक पृथक् पुस्तक भी लिखी। 'शिक्षा पत्री' इस सम्प्रदाय की आधार भूत पुस्तक है। इसके 53 श्लोकों को उद्धृत कर स्वामीजी ने स्वामी नारायण की मान्यताओं का प्रमाण पुरस्सर खण्डन किया है। इस सम्प्रदाय में राधापति कृष्ण ही पूज्य एवं उपास्य हैं। 'शिक्षा पत्री, में व्यक्त विचार वैष्णव मत की सामान्य शिक्षाओं के ही तुल्य है। अन्य मध्यकालीन धर्माचार्यों की भांति स्वामी नारायण मत में भी स्त्रियों के वेदाध्ययनाधिकार को अस्वीकार किया गया है। तुलसी माता तथा उर्ध्व पुण्ड्र तिलक धारण इस सम्प्रदाय में विहित माना गया है। मूर्तिपूजा के प्रति भी यह सम्प्रदाय उतना ही निष्ठावान् है जितना कोई अन्य वैष्णव सम्प्रदाय। स्वगुरु द्वारा प्रपत्त कृष्ण की मूर्ति की पूजा ही यहां कर्त्तव्य माना गया है। विष्णु के अतिरिक्त स्वामी नारायण ने शिव, शक्ति, गणपति और सूर्य को भी उपास्य माना है। इस प्रकार यह मत भी अन्य पौराणिक मतों की भांति पञ्चायतन पूजा का पक्षपाती है।

इस सम्प्रदाय में वेदान्त दर्शन, श्रीमद्भागवत, विष्णु सहस्र-नाम, भगवद्गीता आदि ग्रन्थ प्रमाण माने गये हैं। इस मत ने रामानुज प्रोक्त विशिष्टाद्वैत दर्शन को अपना प्रतिपाद्य दार्शनिक मत स्वीकार किया है। अतः स्वामी नारायण मत के अनुयायी

गीता और ब्रह्मसूत्रों पर लिखे गये आचार्य रामानुज के भाष्यों को प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं। बल्लभाचार्य के तुल्य 'श्रीकृष्ण शरणं मम' इस सम्प्रदाय का मूल मन्त्र है, जिसका उपदेश अनुयायियों को दिया जाता है। चक्राँकित वैष्णव के तुल्य स्वामी नारायण मत के अनुयायी भी वैष्णव चिह्नों से अपने शरीर को अंकित करते हैं।

वैष्णवों और शैवों में अवान्तर सम्प्रदाय भी हैं। यद्यपि रामानुज, मध्व, निम्बार्क और बल्लभ द्वारा प्रवर्तित मतों की गणना ही मुख्य वैष्णव सम्प्रदायों में होती है, परन्तु राधा-बल्लभ, गौड़ीय आदि वैष्णवों के अन्य गौण भेद भी हैं। इसी प्रकार शैवों में भी लकुशीश, लिंगायत आदि पृथक् भेद हैं। स्वामी दयानन्द के मतानुसार ये सभी सम्प्रदाय अत्यन्त वेद विरोधी, तर्क, युक्ति एवं विज्ञान विरुद्ध शिक्षाओं का प्रचार करने वाले तथा सामाजिक एकता तथा संगठन के विरोधी है।

ब्रह्म समाज

मध्यकालीन आर्यावर्त्तीय मत-सम्प्रदायों का सम्यक् ऊहा-पोह करने के पश्चात् स्वामी दयानन्द ने अपने काल के नवीन मत-पन्थों, विश्वासों तथा धार्मिक समूहों का भी विवेचन और मूल्यांकन किया। उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल में धार्मिक पुन-र्जागरण का प्रारम्भ राजा राम मोहन राय द्वारा 'ब्रह्म समाज' की स्थापना के साथ हुआ। राजाराम महोदय वेद तथा उप-निषदों पर आधारित एकेश्वरवाद के प्रबल समर्थक, मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी तथा नवीन सुधारों के पक्षपाती थे। कालान्तर में 'ब्रह्म समाज' के द्वितीय नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने भी 'ब्रह्म समाज' में पुरातन मूल्यों को यथोचित महत्त्व देते हुए इस संस्था को एक ईश्वर में विश्वास रखने वाले विशुद्ध आस्तिक संगठन

के रूप में विकसित किया था, परन्तु जब इस समाज का नेतृत्व केशवचन्द्र सेन के हाथ में आया तो 'ब्रह्मसमाज' के सिद्धान्तों और मन्तव्यों में आमूलचूल परिवर्तन हो गया। केशवचन्द्र ने प्राचीन वैदिक मान्यताओं के स्थान पर ईसाई विश्वासों को अधिक महत्त्व दिया। दर्शन तथा कर्मकाण्ड में सर्वत्र ईसाई धारणाओं का ही अनुकरण किया जाने लगा। परिणामतः ब्रह्मसमाज जनसाधारण से दूर हटता गया और उसका प्रभाव-क्षेत्र भी अत्यन्त सीमित रह गया।

स्वामी दयानन्द 1872 के अन्त में कलकत्ता गये थे और लगभग 4 मास तक इस नगर में रह कर उन्होंने समकालीन 'ब्रह्मसमाज' की सभी गतिविधियों को सूक्ष्मता के साथ देखा था। आदि ब्रह्मसमाज के नेता और आचार्य देवेन्द्र नाथ ठाकुर तथा नवविधान के संस्थापक केशवचन्द्र सेन से उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विस्तृत विचार-विमर्श भी किया था। ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों तथा क्रिया-कलापों का सूक्ष्म अध्ययन करने के उपरान्त वे इन निष्कर्षों पर पहुंचे थे।

1. ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज (महाराष्ट्र में स्थापित ब्रह्म समाज के सिद्धान्तों को ही प्रायः स्वीकार करने वाला संगठन) ने हिन्दू समाज के नवशिक्षित लोगों को ईसाइयत के चंगुल में फंसने से बचाया है।

2. इन संस्थाओं ने मूर्ति-पूजा के पाखण्ड को समाप्त करने के लिये भी बहुत कुछ किया है।

3. पुराण आदि मिथ्या ग्रन्थों के जाल से लोगों को पृथक् कर वेद तथा उपनिषदादि सत्य-शास्त्रों की ओर उन्हें प्रवृत्त करने का इनका कार्य भी श्लाघनीय है।

4. 'सती-प्रथा' को बंद कराने, विधवाओं की स्थिति को सुधारने, नारी शिक्षा प्रचार, नशा उन्मूलन, बाल विवाह निषेध जैसे सुधार कार्यों के प्रति स्वामीजी का प्रशंसा भाव रहा तथा वे ब्रह्मसमाज के इन कार्यों का हार्दिक स्वागत करते रहे।

परन्तु केशवचन्द्र सेन तथा उनके अनुयायियों के ईसाइयत के प्रति अत्यधिक आग्रह को देखकर उन्हें यह आशंका होने लगी थी कि कहीं राजा राममोहन राय द्वारा विशुद्ध वैदिक और औपनिषदिक एकेश्वरवाद पर निर्मित ब्रह्मसमाज का यह ढांचा ईसाई विश्वासों में प्रति अतिरंजित आस्थावान् होने के कारण ध्वस्त न हो जाय। फलतः उन्होंने ब्रह्मसमाज की आलोचना करते हुए लिखा—1. ईसाइयत के बहुत से आचरणों का अंधानुकरण ब्राह्म लोगों ने किया है। नवविधान में तो बपतिस्मा, लार्ड सपर आदि अनेक ईसाई कर्मकाण्डों को भी स्वीकार कर लिया गया था।

2. खान-पान और विवाह आदि के नियमों में भी स्वेच्छाचारिता पूर्ण परिवर्तन किये हैं। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि पुरातन रूढ़ि मूलक आचारों का अंध विरोध करने की धुन में ब्रह्मसमाज के कार्यकर्त्ताओं ने आचार-विचार तथा भक्ष्याभक्ष्य विषयक आवश्यक नियमों को भी ताक पर रख दिया था। इसी प्रकार जाति व्यवस्था को तोड़ कर अन्तर्जातीय विवाहों को कानूनी रूप प्रदान कराने के उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने भारत सरकार से जो 'ब्राह्म विवाह विधेयक' स्वीकार कराया था, उसके अनुसार विवाह करने वाले दम्पति को यह घोषणा करनी पड़ती थी कि वह किसी भी प्रचलित हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख और ईसाई आदि धर्म को नहीं मानता। इस प्रकार ब्राह्म पद्धति के विवाह हिन्दू समाज के व्यापक क्षेत्र से पृथक् समझे जाने लगे थे।

3. स्वामी दयानन्द को ब्रह्मसमाज के नेताओं के पश्चिमाभिमुखी होने पर भी आपत्ति थी। इन लोगों में स्वदेश के प्रति आस्था भाव नहीं के तुल्य था। अपने भाषणों तथा प्रवचनों में केशव जैसे ब्रह्मनेता पश्चिमी दार्शनिकों, लेखकों तथा धर्माचार्यों की तो जी खोलकर प्रशंसा करते, किन्तु एतद्देशीय ऋषि-मुनियों तथा आचार्यों की प्रशंसा करने में उन्हें संकोच होता था। राजा राममोहन भी भारत में अंग्रेजी राज्य तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रबल समर्थक थे।

4. ब्रह्मसमाज में वेदादि सत्य शास्त्रों को उचित महत्त्व नहीं मिला था। यद्यपि राममोहन राय शास्त्र विषयक प्रश्नों के समाधान में वेदों को स्वतः प्रमाण तथा अवान्तर ग्रन्थों को परतः प्रमाण मानने के सिद्धान्त का निरूपण कर चुके थे, परन्तु परवर्ती ब्राह्मनेताओं ने वेद के प्रमाण-विषयक प्राचीन मत को ठुकरा कर आत्मा के आदेश को मानने का मत स्वीकार कर लिया था।

इस प्रकार ब्रह्मसमाज में पनपने वाली अनेक दूषित तथा परकीयों के अनुकरण की आपत्तिजनक प्रवृत्तियों को देख कर स्वामी दयानन्द ने यह आंशका व्यक्त की थी कि जिस ब्रह्मसमाज में स्वधर्म, स्वसंस्कृति, स्वभाषा तथा स्वदेश के प्रति अत्यन्त न्यून आस्था भाव है उससे भारत तथा अंततः मानवता के सुनिश्चित हित होने की कोई आशा नहीं है। अतः उन्होंने लिखा—"भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुए हैं और अपने माता, पिता, पितामहादि के मार्ग को छोड़ कर दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना ब्रह्मसमाजी और प्रार्थना समाजियों की एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करते हैं। इंगलिश विद्या पढ़ के पण्डिताभिमानी होकर भी एक

मत चलाने में प्रवृत होना मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है ?

सत्य धर्म की पहचान

इस प्रकार स्वामी दयानन्द महाभारत के परवर्ती काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के विभिन्न मत-मतान्तरों की स्पष्ट एवं निर्भीक आलोचना करते हुए इस बात पर जोर देते हैं कि सत्य, धर्म, न्याय और वास्तविकता को स्वीकार करने के लिये अधर्म, असत्य, अन्याय और मिथ्या से हटाना भी आवश्यक है। 'रामायस्वस्ति, रावणाय स्वस्ति' की नीति को वे नही मानते। उनकी दृष्टि में धर्म, सत्य और न्याय का समर्थन करने के लिये इनसे विपरीत अधर्म, असत्य तथा अन्याय का प्रतिकार भी आवश्यक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये सत्यार्थप्रकाश के समीक्षा प्रधान उत्तरार्द्ध की रचना की गई थी।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि प्रत्येक मत तथा सम्प्रदाय में भी कुछ आंशिक सत्यता होती है, पुनः इसका खण्डन क्यों किया जाय। इस सम्बन्ध में स्वामी जी का मन्तव्य स्पष्ट है। वह कहते है कि धर्म और अधर्म एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं। आंशिक सत्य धारण करने वाले सम्प्रदायों की अपेक्षा पूर्ण सत्य पर आश्रित वैदिक मन्तव्यों को स्वीकार करना ही मानव के लिए श्रेयस्कर है। विश्व धर्म तथा संकीर्ण सम्प्रदायों के पार्थक्य को सिद्ध करने के लिये सत्यार्थप्रकाशकार ने एक दृष्टान्त उपस्थित किया है।

कोई जिज्ञासु राजा संसार में विद्यमान सभी मत तथा पन्थों के अधिष्ठाताओं को एकत्र कर उनसे सत्य धर्म विषयक जिज्ञासा करे तो यह सुनिश्चित है कि सभी साम्प्रदायिक वृत्ति के लोग स्वसम्प्रदाय की ही प्रशंसा करेंगे तथा अन्य मत पन्थों को निन्दास्पद ठहरायेंगे। परन्तु जब यही जिज्ञासु किसी आप्त

पुरुष के निकट धर्म सम्बन्धी वास्तविकता को जानने के लिये उपस्थित होता है तो वह आप्त उसे सत्य, अहिंसा, न्याय, दया, करुणा और विश्वबंधुत्व आदि मानव धर्म के उन मौलिक तत्त्वों को ही धर्म का वास्तविक रूप मानने पर जोर देता है न कि उन बाह्याचारों और कर्मकाण्डमूलक आचरणों को, जो प्रत्येक मत सम्प्रदाय ने अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप कल्पित कर लिये हैं। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इस प्रकार विश्व के सार्वजनिक मानव धर्म के मौलिक अंगभूत तत्त्वों का ज्ञान होने पर भी सम्प्रदाय भावापन्न व्यक्ति न तो उन्हें स्वीकार ही करता है और न अपने साम्प्रदायिक आचरणों को त्यागने के लिये ही तत्पर रहता है। कारण स्पष्ट है। वे कहते हैं जो हम ऐसा करें तो हमको कौन पूछे? हमारे चेले हमारी आज्ञा में न रहें, जीविका नष्ट हो जाये आदि। स्पष्ट है कि मत-सम्प्रदाय का आग्रह मनुष्य के क्षुद्रतम स्वार्थों से प्रेरित है। लोगों को न शासन का भय होता है और न परमात्मा का। उनका सिद्धान्त है 'रोटी खाइये शक्कर से, दुनिया ठगिये मक्कर से'।

ये स्वार्थपराणय लोग न राजा की परवाह करते हैं और न प्रजा की। वे जानते हैं कि जब तक राजा और प्रजा मूढ़, अज्ञ तथा स्वार्थ लिप्त हैं तब तक हमें चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं। इनकी दृष्टि में येन केन प्रकारेण धनोपार्जन करना ही मनुष्य का परमपुरुषार्थ है। टका ही धर्म है टका ही कर्म है वही परम पद है। जिन्हें पैसों का अभाव रहता है वे ही द्रव्यमानो की ओर लोलुप दृष्टि से टकटकी लगा कर देखते हैं। लक्ष्मी अर्जित करने को ही जीवन का चरमलक्ष्य स्वीकार करने वाले लोगों की दृष्टि में रुपया ही भगवान् है। कई लोग कलियुग को

ही दोषी ठहराते हुए वर्तमान की समस्त बुराइयों तथा भ्रष्टाचार के लिये युग विशेष को दोष देते हैं। परन्तु कलियुग तो कालगणना का एक प्रकार मात्र है। उसे धर्माधर्म का साधक अथवा बाधक मानना भूल है। प्रत्येक युग में धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य न्याय-अन्याय सभी प्रकार की द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियां मनुष्य में विद्यमान रही हैं और रहेंगी। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य युग की दुहाई न देकर सत्य, न्याय और धर्म को विजयी बनाने के लिये सन्नद्ध हो तथा असत्य, और अधर्म को पराजित करे।

साम्प्रदायिक आचार के प्रसार तथा धर्म के ह्रास के लिये गृहस्थ उपदेशकों की अपने कर्त्तव्य के प्रति विमुखता जितनी उत्तरदायी है उससे भी अधिक चतुर्थाश्रमी संन्यासी वर्ग की धर्म प्रचार में निरुत्साह की प्रवृत्ति को उत्तरदायी माना जा सकता है। दयानन्द सरस्वती स्वयं संन्यासी होने के नाते यह अनुभव करते थे कि यदि आर्य जाति का शिरोमणि रूप परिव्राजक वर्ग कृत संकल्प होकर कर्त्तव्यारूढ़ हो जाये तो वैदिक संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा तथा प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त करने में विलम्ब नहीं हो सकता। परन्तु खेद है कि वर्तमान युग के संन्यासी, वैरागी, ब्रह्मचारी तथा उदासी लोग भी सर्वथा विद्याहीन, आचार भ्रष्ट, आलसी, प्रमादी तथा नाना दुर्व्यसन-ग्रस्त हो चुके हैं। उनका काम रह गया है-व्यर्थ का देशाटन, तीर्थाटन करना, पाषाण निर्मित देवालयों का दर्शन तथा गृहस्थ मुमुक्षुओं को संसार के मिथ्यात्व का पाठ पढ़ाना। जो पठित संन्यासी हैं उन्होंने भी कर्म से संन्यास ले लिया है। वे मौन धारण कर जीवन को अकर्मण्य बना लेना ही श्रेयस्कर समझ बैठे हैं। इसी प्रसंग में दशनामी संन्यासी वर्ग के कार्यों

की आलोचना करते हुए स्वामी दयानन्द स्पष्ट करते हैं कि संन्यासियों का यह वर्गीकरण कालान्तर में प्रचलित हुआ है, वह अधिक पुराना नहीं है। जमातों और मण्डलियों का संगठन करना संन्यासियों के लिये उचित नहीं है। मठों, शिष्यों आदि का प्रलोभन भी संसार के प्रति आसक्ति का ही द्योतक है।

इस प्रकार बौद्ध, जैन, ईसाई तथा इस्लाम जैसे वेदों के प्रति सर्वदा अनास्था रखने वाले मतों की आलोचना करने से पूर्व स्वामी दयानन्द ने यह सर्वथा उचित समझा कि उनके सामने देश तथा जन्म जात शैव, वैष्णव, शाक्त तथा हिन्दू धर्म के नाम से प्रचलित अन्य उन मत सम्प्रदायों के मिथ्या एवं भ्रममूलक सिद्धान्तों का परीक्षण किया जाय जो प्रकारान्तर से वेद प्रमाण को तो किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु जो वेदों की वास्तविक शिक्षाओं और मान्यताओं से पर्याप्त दूर जा चके हैं।